

19वीं शताब्दी के प्रमुख सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलन

रेखा जौरवाल

व्याख्याता

इतिहास विभाग

गौरी देवी राजकीय महिला महाविद्यालय,

अलवर (राज.) 301001

प्रस्तावना

18वीं-19वीं शताब्दी में अंग्रेजों द्वारा भारत पर आधिपत्य ने, भारतीय सामाजिक संस्थाओं की कुछ गंभीर कमजोरियों व खामियों को उभार कर सामने रख दिया। परिणामस्वरूप अनेक व्यक्तियों और आंदोलनों ने सामाजिक सुधार व पुनरुत्थान की दृष्टि से सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं में परिवर्तन लाना शुरू किया ये कोशिशें, जिन्हें संयुक्त रूप से पुनर्जागरण (मेसा) के नाम से जाना जाता है एक जटिल सामाजिक घटना महत्वपूर्ण बात यह है कि घटना उस समय घटी जब भारत ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अधीन था।

सुधार क्यों?

चर्चा के लिए एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वह कौन-सी शक्ति थी जिसने भारत में जागरण की लहर को जन्म दिया। क्या यह पाश्चात्य प्रभाव के परिणामस्वरूप हुआ? या केवल औपनिवेशिक हस्तक्षेप का जबाब भर था। हालांकि ये दोनों प्रश्न अंतर्संबंधित हैं किन्तु भली-भाँति समझने के लिए दोनों को अलग-अलग करना ही अच्छा होगा इसका एक अन्य आयाम भारतीय समाज में आ रहे उन बदलावों से जुड़ा है जिसके फलस्वरूप लिए नए वर्गों का उदय हो रहा था। इस परिप्रेक्ष्य से सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों को औपनिवेशिक भारत के नए उभरते मध्यम वर्ग की सामाजिक महत्वाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के रूप में भी देखा जा सकता है।

सुधार आंदोलनों पर शुरू में लिखे गए इतिहास ग्रंथों में पश्चिमी प्रभाव को ही पुनर्जागरण की उत्पत्ति का मुख्य कारण माना गया है जो प्रारंभिक इतिहास ग्रंथ मिलते हैं, उनमें से एक जे. एन. फबुंहार द्वारा लिखे गए इतिहास ग्रंथ "मार्डन रिलीजिअस मूवमेंट इन इंडिया" (न्यूयार्क 1924) के अनुसार:

"प्रेरक शक्तियाँ करीब-करीब केवल पाश्चात्य ही हैं यानि अंग्रेजी साहित्य और शिक्षण, इसाई धर्म, पूर्वी अनुसंधान, यूरोपीय विज्ञान और दर्शन तथा पाश्चात्य सभ्यता के भौतिकवादी तत्व।

अनेक इतिहासकारों ने इसी विचार को दोहराया तथा इसी की आगे व्याख्या की है। उदाहरण के लिए, चार्ल्स हेइमसाथ, ने न केवल विचारों बल्कि सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों की संगठनात्मक प्रणाली को भी पाश्चात्य प्रोत्साहन से जोड़ा।

19वीं शताब्दी के समाज में हुई पुनर्जागरण की प्रक्रिया पर पाश्चात्य प्रभाव के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। फिर भी यदि हम सुधार की इस पूरी प्रक्रिया को औपनिवेशिक कृपा मात्र मान लें और अपने आपको सिर्फ इसके सकारात्मक पहलुओं की ओर देखने तक ही सीमित रखें तो हम इस घटना के जटिल चरित्र के प्रति न्याय नहीं कर पाएँगे सुशोभन सरकार (बंगाल रेनेसां एण्ड अदर एसेज, न्यू देहली, 1970) ने हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया है कि 'विदेशियों का आधिपत्य और शासन पराधीन जनता के पुनर्जागरण में सहायता करने की अपेक्षा बाधा ही डालेगा। 19वीं शताब्दी के पुनर्जागरण के कार्यक्षेत्र और आयामों को सीमित करने में औपनिवेशिक शासन की भूमिका ध्यान देने योग्य है। वह किसी भी सही तथ्य तक पहुंचने की कोशिशों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन जाती है।

सुधार आंदोलनों को विदेशी घुसपैठ द्वारा उत्पन्न चुनौती की प्रक्रिया के जवाब के रूप में देखा जाना चाहिए। वे समाज सुधार के प्रयत्न के रूप में तो महत्वपूर्ण थे ही, उससे कहीं ज्यादा उनकी महत्ता औपनिवेशिकता से उत्पन्न नई परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष प्रदर्शन में थी। दूसरे शब्दों में, सामाजिक-धार्मिक सुधार अपने तक ही सीमित रहकर खत्म नहीं हो गए अपितु वे औपनिवेशिकता के विरुद्ध उभरती हुई चेतना का भी अभिन्न अंग थे।

अतः सुधारों को लाने की लालसा के पीछे, औपनिवेशिक शासन के परिणामस्वरूप समाज और इसके संस्थाओं में एक नयापन लाने की आवश्यकता थी। फिर भी सुधार आंदोलनों के इस रूप ने पुनरुत्थान की जिन प्रवृत्तियों का परिचय दिया वे थी भारतीय अतीत के गुणगान करने तथा भारतीय सभ्यता व संस्कृति की रक्षा करने की प्रवृत्तियाँ। हालांकि इन सब बातों से आंदोलनों का चरित्र संकीर्ण व पतनोन्मुख प्रतीत हुआ फिर भी जनता के बीच सांस्कृतिक चेतना जगाने और उनका विश्वास बढ़ाने में इन्होंने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

सुधार आंदोलन

सुधार की सबसे पहली अभिव्यक्ति बंगाल में राममोहन राय द्वारा शुरू हुई। उन्होंने 1814 में आत्मीय सभा की स्थापना की जो उनके द्वारा 1829 में संगठित ब्रह्म समाज की अग्रगामी थी। सुधार की भावना शीघ्र ही देश के अन्य भागों में भी दिखाई देने लगी। महाराष्ट्र की परमहंस मंडली और प्रार्थना समाज, पंजाब तथा उत्तर भारत के अन्य भागों में

आर्य समाज, हिंदू समाज के कुछ मुख्य आंदोलन थे। इस दौरान के कई अन्य धार्मिक व जातिगत आंदोलन जैसे यू.पी. में कायस्थ सभा तथा पंजाब में सरिनी सभा थे। पिछड़ी जातियों में भी इन सुधारों ने जड़ पकड़ ली जैसे, महाराष्ट्र में सत्यशोधक समाज और केरल में नारायण धर्म परिपालन सभा। अहमदिया और अलीगढ़ आंदोलन, सिंह सभा तथा रहनुमाई मजदेआसन सभा आदि ने क्रमशः मुसलमानों, सिक्खों तथा पारसियों में सुधार की भावना का प्रतिनिधित्व किया। ऊपर दिए गए ब्यौरे से निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं :

1. इनमें से हरेक सुधार आंदोलन कुल मिलाकर किसी एक या अन्य प्रांत तक सीमित था। ब्रह्म समाज और आर्य समाज की देश के अन्य प्रांतों में शाखाएं थी फिर भी वे अन्य स्थानों की अपेक्षा बंगाल व पंजाब में ही ज्यादा प्रसिद्ध थे।
2. ये आंदोलन किसी एक ही धर्म या जाति तक ही सीमित थे।
3. इन आंदोलनों की एक अन्य विशेषता यह थी कि वे अलग-अलग समय में देश के अलग-अलग हिस्सों में उभरे। उदाहरण के लिए, बंगाल में सुधार के प्रयत्न 19वीं शताब्दी के आरंभ में शुरू हुए जबकि केरल में इनकी शुरुआत 19वीं शताब्दी के बाद हुई। इन सबके बावजूद उनके उद्देश्य और परिपेक्ष्य काफी हद तक समान ही थे। सभी की चिंता सामाजिक व शैक्षिक सुधारों द्वारा समाज के पुनर्जागरण में थी। भले ही उनकी प्रणालियों में अंतर था।

सुधारों का विस्तार क्षेत्र

19वीं शताब्दी के सुधार आंदोलन विशुद्ध धार्मिक आन्दोलन नहीं थे बल्कि वे सामाजिक-धार्मिक आंदोलन थे। बंगाल के राममोहन राय, महाराष्ट्र के गोपाल हरि देशमुख (लोकहितवादी) और आंध्र के विरेशलिंगम् जैसे सुधारकों ने धार्मिक सुधारों की वकालत "राजनैतिक फायदों और सामाजिक सुख" के लिए की थी। इन आंदोलनों और उनके नेताओं के सुधार परिपेक्ष्य की विशेषता उनकी इस मान्यता में थी कि धार्मिक और सामाजिक समस्याओं में अंतर्संबंध है। उन्होंने धार्मिक विचारों के प्रयोग द्वारा सामाजिक संस्थानों और उनकी परंपराओं में बदलाव लाने की कोशिश की। उदाहरण के लिए, महत्वपूर्ण ब्राह्मण-नेता केशव चंद्र सेन ने "देवत्व की एकता और मानव मात्र में भाई चारे" की व्याख्या समाज से जाति भेद मिटाने के लिए की थी। सुधार-आंदोलनों की सीमा के अंतर्गत आने वाली प्रमुख समस्याएं निम्न थी:

- नारी मुक्ति जिसमें सती-प्रथा, शिशुहत्या, विधवा तथा बाल-विवाह इत्यादि समस्याओंको उठाया गया।

- जातिवाद और छुआछूत ;
- समाज के ज्ञानोदय हेतु शिक्षा।

धार्मिक क्षेत्र के मुख्य विषय थे :

- मूर्तिपूजा
- बहुदेववाद
- धार्मिक मंधविश्वास और
- पंडितों द्वारा शोषण

सुधारों की प्रणाली

सामाजिक-धार्मिक परंपराओं में सुधार लाने के लिए विभिन्न प्रणालियों का प्रयोग किया गया जिनमें से चार मुख्य धाराएं निम्नलिखित हैं।

आंतरिक सुधार

आंतरिक सुधार प्रणाली की शुरुआत राममोहन राय द्वारा की गयी थी और 19वीं शताब्दी में इसका प्रयोग हुआ इस प्रणाली के प्रचारकों का यह विश्वास था कि किसी भी सुधार को प्रभावशाली होने के लिए यह आवश्यक है कि वह समाज के अंदर से ही हो। परिणामस्वरूप इनके प्रयास लोगों के बीच जागरूकता की भावना पैदा करने पर केंद्रित थे। यह प्रयास उन्होंने किताबें छापकर विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर बहस व विवाद का आयोजन इत्यादि करके किया। राममोहन राय का सती प्रथा के खिलाफ प्रचार, विद्यासागर के विधवा विवाह पर लिखे इश्तहार तथा बी. एन. मालाबारी के शादी-विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाने के प्रयास इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

कानून के द्वारा सुधार

दूसरी प्रवृत्ति कानूनी हस्तक्षेप द्वारा प्रभाव लाने के विश्वास पर आधारित थी। इस प्रणाली की वकालत करने वाले बंगाल के केशवचंद्र सेन, महाराष्ट्र के महादेव गोविन्द रानाडे तथा आंध्र प्रदेश के विरेशलिंगम् का मानना था कि सुधार के प्रयास वास्तव में तब तक प्रभावशाली नहीं हो सकते जब तक उन्हें राज्य का सहयोग प्राप्त नहीं हो इसीलिए उन्होंने सरकार से विधवा-विवाह, कानूनी विवाह (सिविल मैरिज) तथा अन्य विवाहों की न्यूनतम आयु बढ़ाने जैसे सुधारों को कानूनी समर्थन देने की मांग की। हालांकि वे यह समझने में भूल कर बैठे कि ब्रिटिश सरकार की सामाजिक सुधारों में रुचि केवल अपने संकीर्ण राजनैतिक व आर्थिक स्वार्थों के कारण थी और वे तभी हस्तक्षेप करते जब इन सुधारों से उनका स्वार्थ अप्रभावित रहता। साथ ही वे यह समझने में भी गलती कर बैठे कि बदलाव के लिए हथियार के रूप में कानून की भूमिका औपनिवेशिक समाज में ही सीमित थी क्योंकि इसे जनता की मान्यता प्राप्त नहीं थी।

प्रतीकात्मक बदलाव द्वारा सुधार

तीसरी प्रवृत्ति की कोशिश विशिष्ट विरोधी गतिविधियों द्वारा प्रतीकात्मक बदलाव लाने की थी। यह प्रवृत्ति “डेरोजिओ” या “यंग बंगाल” तक ही सीमित थी जो सुधार आंदोलन के बीच क्रांतिकारी धारा का नेतृत्व करती थी। इस समूह के सदस्य, जिनमें से प्रमुखतः दक्षिणारंजन मुखर्जी, रामगोपाल घोष तथा कृष्ण मोहन बनर्जी ने परंपराओं का बहिष्कार किया और समाज की मान्यता प्राप्त मानदंडों के खिलाफ विद्रोह किया। वे ‘पश्चिम के नए उठते विचारों’ की धारा से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने सामाजिक समस्याओं के प्रति समझौता न करने वाली क्रांतिकारी प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया। रामगोपाल घोष ने इस समूह की क्रांतिकारिता को अभिव्यक्त करते हुए घोषणा की—“वह जो तर्क नहीं करेगा धर्मान्ध है, वह जो नहीं कर सकता, बेवकूफ है और जो नहीं करता, गुलाम है।” इन्होंने जिस प्रणाली को अपनाया उसकी मुख्य कमजोरी यह थी कि वह भारतीय समाज की सांस्कृतिक परंपरा को आकर्षित करने में सफल नहीं हो पाई। अतः बंगाल में उभरते नए मध्यम वर्ग ने इसे परंपरा के विरुद्ध पाया और स्वीकार नहीं किया।

सामाजिक कार्यों द्वारा सुधार

चौथी प्रवृत्ति सामाजिक कार्यों द्वारा सुधार की थी जैसा कि ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन की गतिविधियों से स्पष्ट है। उन लोगों को बिना सहायक सामाजिक कार्य के विरुद्ध बुद्धिजीवी प्रयासों की सीमित सीमा का स्पष्ट ज्ञान था। उदाहरण के लिए विद्यासागर विधवा विवाह की वकालत सिर्फ प्रवचनों और किताबों के प्रकाशन करके ही खुश नहीं थे। शायद आधुनिक युग में भारत ने उनके रूप में सबसे महान मानवतावादी को जन्म दिया, जिसने अपने को विधवा-विवाह की समस्याओं से जोड़ लिया और अपनी पूरी जिन्दगी, शक्ति और धन इसी कार्य पर लगा दिया। इन सबके बावजूद वह सिर्फ कुछ-एक विधवा-विवाह ही करवा पाए। विद्यासागर का सार्थक रूप से कुछ न प्राप्त कर पाना ही इस बात का द्योतक है कि औपनिवेशिक भारत में सामाजिक सुधारों के प्रभाव की अपनी एक सीमा थी। आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन ने भी सामाजिक कार्य द्वारा सुधार व पुनर्जागरण के विचारों को बढ़ावा देने का प्रयास किया। उनकी सीमा उनकी खुद की वह सीमित समझ थी कि सामाजिक और बौद्धिक स्तरीय सुधार समाज के संपूर्ण चरित्र व संरचना के साथ इस कदर जुड़े हैं कि उसे अलग करके नहीं देखा जा सकता। मौजूदा व्यवस्था की संकीर्णता ही उन सीमाओं को दर्शाती है जिन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का कोई भी प्रयास लांघ नहीं पाया है। दूसरे सुधार आंदोलनों की तुलना में इनकी निर्भरता औपनिवेशिक सरकार के हस्तक्षेप पर कम और सामाजिक कार्य को मत के रूप में विकसित करने पर ज्यादा रही।

संदर्भ सूची :-

- 1^प दत्त, केके: आधुनिक भारत का एक सामाजिक इतिहास, नई दिल्ली, 1975।
- 2^प बोस, एन.एस.: इंडियन अवेकनिंग एंड बंगाल, कलकत्ता, 1975।
- 3^प मजूमदार, आर.सी. (संपादक) – ब्रिटिश पैरामाउंट सी एंड इंडियन रेनेसांस, दो खंडों में, बॉम्बे, 1965
- 4^प कुमार, रविंदर: आधुनिक भारत के सामाजिक इतिहास में निबंध, दिल्ली, 1983